



उद्द्विकास का नियम ✓ (Law of Evolution)

हरबर्ट स्पेन्सर का उद्द्विकास का नियम एक उल्लेखनीय सिद्धान्त कहा जा सकता है। यह कहा जाता है कि इस नियम को प्रस्तुत करने में आप पर चार्ल्स डार्विन द्वारा प्रतिपादित प्राणिशास्त्रीय उद्द्विकासीय सिद्धान्त का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। इस सम्बन्ध में डार्विन की कृति *Origin of Species* में व्यक्त विचार ही स्पेन्सर के विचारों का आधार हैं। डार्विन के अनुसार प्रारम्भ में प्रत्येक जीवित वस्तु सरल होती है और उसके विभिन्न अंग इस प्रकार एक-दूसरे के साथ घुले-मिले होते हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता और न ही उसका कोई निश्चित स्वरूप होता है। पर धीरे-धीरे उस वस्तु के विभिन्न अंग स्पष्ट तथा पृथक् हो जाते हैं और साथ-ही-साथ उसका स्वरूप भी निश्चित हो जाता है। उदाहरण के लिए प्रारम्भ में एक बीज बहुत सरल होता है और उसके विभिन्न अंग (जैसे जड़, तना, फल, फूल आदि) अलग-अलग नहीं होते अर्थात् उसमें अभिन्न समानता होती है। पर धीरे-धीरे वे अंग स्पष्ट हो जाते हैं और उनमें भिन्नता उत्पन्न होती है और साथ-ही-साथ प्रत्येक अंग का अलग-अलग काम बँट जाता है। उदाहरणार्थ, जीव निर्माण का आरम्भ एक कोष्ठ से होता है, पर धीरे-धीरे इसी कोष्ठ से हाथ, पैर, आँख, मुँह, नाक, पेट आदि विभिन्न अंगों का न केवल विकास होता है, अपितु प्रत्येक अंग का एक विशेष कार्य भी होता है, जैसे पैर चलने का काम करता है तो आँख देखने का, मुँह खाने का तो कान सुनने का। पर

इस विभिन्नता या श्रम-विभाजन का यह अर्थ नहीं कि कोई भी अंग दूसरे से पूर्णतया पृथक् या उनसे परे होता है। वास्तव में विभिन्न अंगों में सदैव अन्तःसम्बन्ध और अन्तःनिर्भरता बनी रहती है। उद्द्विकास की यह प्रक्रिया निरन्तर जारी रहने वाली एक प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया के दौरान प्राणी में कुछ-न-कुछ परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है। डार्विन ने यह भी लिखा है कि प्रत्येक प्रकार का प्राणी अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष निरन्तर रूप में करता रहता है और जो भी इस संघर्ष के लिए दुर्बल या अयोग्य होते हैं, उन्हें प्रकृति मार डालने के लिए चुन लेती है अर्थात् उन पर प्राकृतिक प्रवरण का नियम लागू होता है। इस प्रकार के चुनाव या प्रवरण के द्वारा समस्त अयोग्य प्राणी नष्ट हो जाते हैं और केवल सबसे योग्य-प्राणी का ही अस्तित्व सम्भव होता है।

उपरोक्त सिद्धान्त के आधार पर ही स्पेन्सर ने अपने उद्द्विकासीय नियम को प्रतिपादित किया था। आपके अनुसार भौतिक जगत् अर्थात् दृश्य जगत् पदार्थ और शक्ति के सम्मिलन से बना है। ये दोनों अपने अस्तित्व के लिए एक-दूसरे पर आधारित हैं। शक्ति की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि यह सदैव गतिमान रहती है। इस विशेषता में कभी कोई अन्तर नहीं आता और न कभी इसका विनाश होता है। अर्थात् शक्ति गतिमान होने के साथ-साथ शाश्वत भी है; केवल शक्ति के स्वरूप में अन्तर आ सकता है। उसी प्रकार पदार्थ का भी विनाश नहीं होता; केवल उसका रूप बदल जाता है। जैसे कोयले को जलाने पर उसका रूप बदल जाता है और वह राख बन जाता है। इसी प्रकार स्पेन्सर के अनुसार उद्द्विकास के तीन प्रमुख सिद्धान्त हैं—प्रथम तो यह है कि शक्ति शाश्वत है, द्वितीय यह है कि पदार्थ का विनाश नहीं होता और तृतीय यह है कि प्रत्येक चीज में एक गति होती है। इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार स्पेन्सर का कहना है कि प्रारम्भ में प्रत्येक पदार्थ एक अनिश्चित असम्बद्ध समानता की स्थिति में होता है अर्थात् उसके विभिन्न अंग इस प्रकार एक-दूसरे से घुले-मिले होते हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता और न ही उसका कोई निश्चित स्वरूप होता है। संक्षेप में, सभी पदार्थ आरम्भ में एक स्वरूपहीन ढेर मात्र होता था, पर यह ढेर शक्तिमान था और उसमें गति भी थी जिसके कारण समय बीतने के साथ-साथ धीरे-धीरे पदार्थ का स्वरूप बदलता गया और उसके विभिन्न अंग स्पष्ट व पृथक् रूप में प्रकट होते गए। पर इस पृथक्ता या भिन्नता के होते हुए भी विभिन्न अंगों में सम्बद्धता या अन्तःसम्बन्ध व अन्तःनिर्भरता बनी रही। अर्थात् उद्द्विकास के दौरान में पदार्थ एक अनिश्चित असम्बद्ध समानता से निश्चित सम्बद्ध भिन्नता में बदल जाता है। इसी प्रक्रिया से सितारे और नक्षत्र बने, भौतिक दुनिया के विभिन्न अंग स्पष्ट हुए, उनके कार्यों का विभाजन हुआ, जल और मिट्टी ने भौतिक जगत् में हरियाली उत्पन्न की। इसी भाँति दृश्य जगत् की बहुत-सी वस्तुएँ पैदा हुईं और नष्ट होती चली गईं।

उपरोक्त आधार पर ही स्पेन्सर ने उद्द्विकास को इस प्रकार परिभाषित किया है—“उद्द्विकास पदार्थ का समन्वय तथा उससे सम्बन्धित गति है जिसके दौरान पदार्थ एक अनिश्चित असम्बद्ध समानता से निश्चित सम्बद्ध भिन्नता में बदलता है।”

स्पेन्सर के मतानुसार विकास के आरम्भ में जो जीव था, उसमें जीवन के अतिरिक्त किसी प्रकार का रूप या आकार नहीं था। लेकिन धीरे-धीरे उसमें रूप उत्पन्न हुआ और उसी के विकसित रूप में आज हम विभिन्न प्रकार के जीव और वनस्पतियों को देख रहे हैं। दूसरे शब्दों में उद्विकास की प्रक्रिया के फलस्वरूप ही कालान्तर में जीव-जगत् और वनस्पति-जगत् एक-दूसरे से पृथक् हो गए और उसी प्रक्रिया के कारण ही मनुष्य-जाति का उद्विकास बन्दर जैसे पशुओं से हुआ—पशु मानव बना उद्विकास की प्रक्रिया के कारण ही।

स्पेन्सर ने प्राकृतिक प्रवरण के नियम को मानव-समाज पर भी लागू किया और यह निष्कर्ष निकाला कि अस्तित्व के लिए संघर्ष मनुष्य तथा अन्य जीवित प्राणी के बीच तथा स्वयं मनुष्य व मनुष्य के बीच निरन्तर होता रहता है और इस संघर्ष में केवल सबसे उपयुक्त या योग्यता प्राणी ही जीवित रहते हैं। टी.डब्ल्यू. हिल ने लिखा है कि उद्विकास की प्रक्रिया को चेतन-जगत् पर लागू करके स्पेन्सर ने योग्यतम के जीवित रहने के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। उनके अनुसार चेतन-जगत् में अस्तित्व की रक्षा के लिए जीवित प्राणियों में निरन्तर संघर्ष होता रहता है। जीवित प्राणियों की अलग-अलग जातियाँ होती हैं एक जाति का जीव दूसरी जाति के जीव का आहार होता है। इस प्रकार प्राकृतिक नियम के अनुसार केवल वही जीव जीवित रह सकते हैं जिनमें अपने अस्तित्व को बनाए रखने की शक्ति होती है। इसके अतिरिक्त, प्रकृति यह माँग करती है कि प्रत्येक जीव अपना अनुकूलन प्रकृति के साथ करे। जो प्राणी अपने कुछ दोषों के कारण प्रकृति के साथ सफलतापूर्वक अनुकूलन नहीं कर पाते हैं, प्रकृति उन्हें मार डालने के लिए चुन लेती है अर्थात् प्राकृतिक नियम के अनुसार उनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इस प्रकार स्पेन्सर ने प्राकृतिक विवरण के सिद्धान्त को भी प्रस्तुत किया और इसे मानव-समाज पर लागू किया।

समाज एक सावयव के रूप में (Society as an Organism)

स्पेन्सर की सर्वाधिक ख्याति उनके द्वारा प्रतिपादित समाज की प्राणिसावयवी अवधारणा के कारण है। और भी स्पष्ट रूप में प्राणिशास्त्रीय या सावयवी उद्विकासीय सिद्धान्त को आपने समाज पर भी लागू किया और यह निष्कर्ष निकाला कि समाज की एक सावयव इस अर्थ में है कि इन दोनों में अनेक समानताएँ हैं और दोनों के उद्विकास की प्रक्रिया भी एक-सी है।

स्पेन्सर के मतानुसार उद्विकास की प्रक्रिया या नियम समाज पर भी लागू होता है क्योंकि समाज भी एक अनिश्चित असम्बद्ध समानता से निश्चित सम्बद्ध भिन्नता में बदला है, जिसके निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट है—

(1) प्रारम्भ में या अति आदिम युग में समाज अत्यधिक सादा और सरल था। इसके विभिन्न अंग इस प्रकार घुले-मिले होते थे कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता

था। एक परिवार ही सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक सभी प्रकार के कार्यों को करता था। समाज केवल एक समूह मात्र था और खानाबदोश झुण्ड के रूप में घुमन्तू जीवन व्यतीत करता था। प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने ही परिवार के बारे में जानता और करता था। किसी व्यक्ति का न कोई निश्चित उद्देश्य था और न ही कोई विशेष कार्य। सभी व्यक्तियों का उद्देश्य केवल भोजन, आवास तथा तन ढँकने की जरूरत तक ही सीमित था। एक-दूसरे के प्रति किसी भी प्रकार की सामाजिक भावनाएँ नहीं थीं। इस स्तर पर कुछ भी निश्चित न था—न तो मानव-जीवन, न ही सामाजिक संगठन और संस्कृति। इस प्रकार समाज की यह अवस्था अनिश्चित असम्बद्ध समानता की थी।

(2) परन्तु कालान्तर में धीरे-धीरे मनुष्य के अनुभव, विचार तथा ज्ञान में उन्नति हुई और वह समूहवादी से सामाजिक बन गया। उसके सामाजिक जीवन के विभिन्न अंग स्पष्ट हो गए। उदाहरणार्थ, परिवार, राज्य, कारखाना, धार्मिक संस्था, श्रमिक-संघ, गाँव, नगर आदि स्पष्ट रूप में विकसित हुए। इस विकास के दौरान में जैसे-जैसे विभिन्न अंग स्पष्ट होते गए उनके कार्य भी अलग-अलग बँट गए अर्थात् समाज के विभिन्न अंगों के बीच श्रम-विभाजन और विशेषीकरण हो गया। इस प्रकार सामाजिक जीवन में भिन्नता का गुण पनपा।

(3) परन्तु इन विभिन्नताओं (श्रम-विभाजन व विशेषीकरण) के होते हुए भी समाज के विभिन्न अंग एक-दूसरे से पृथक् या पूर्णतया परे नहीं होते हैं। उनमें कुछ-न-कुछ अन्तःसम्बन्ध व अन्तःनिर्भरता बनी रहती है। परिवार राज्य से सम्बन्धित तथा उस पर निर्भर है और राज्य परिवार से सम्बन्धित व उस पर निर्भर है। उसी प्रकार शिक्षक, किसान, धोबी, कारीगर—इन सबमें एक अन्तःसम्बन्ध तथा अन्तःनिर्भरता होती है। साथ ही सामाजिक जीवन, व्यवस्था तथा संगठन में एक निश्चितता पनप जाती है। इस प्रकार समाज एक अनिश्चित असम्बद्ध भिन्नता में बदल जाता है। इसी अर्थ में, स्पेन्सर के अनुसार, उद्द्विकास का नियम समाज पर भी लागू होता है।

(4) इतना ही नहीं, प्राणिशास्त्रीय उद्द्विकास की भाँति सामाजिक उद्द्विकास की प्रक्रिया कुछ निश्चित स्तरों से गुजरकर होती है, जिसे दौरान में समाज का सरल रूप धीरे-धीरे जटिल रूप धारण कर लेता है। उदाहरणार्थ, आर्थिक जीवन के प्रारम्भ में अदला-बदली से काम शुरू किया गया, पर अब उस आदी और सरल व्यवस्था ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का रूप धारण कर लिया है। पहले लोग सीधे-सादे तौर पर पैदल चलते थे, पर अब तीव्र गति से हवाई जहाज पर सफर करते हैं। यह विकास एक दिन में नहीं हुआ बल्कि धीरे-धीरे कुछ निश्चित स्तरों में से होकर गुजरा है। जैसे सावयव या शरीर का उद्द्विकास जन्म, बचपन, युवावस्था, प्रौढ़त्व और मृत्यु आदि स्तरों में से गुजरता है, उसी प्रकार समाज के विभिन्न पक्षों का उद्द्विकास कुछ निश्चित स्तरों में से गुजरता हुआ होता है। उदाहरणार्थ, आर्थिक जीवन का उद्द्विकास शिकार करने की स्थिति, चरागाह की स्थिति, कृषि स्तर तथा औद्योगिक स्तर में से गुजरता हुआ होता है।

स्पेन्सर का कथन है कि समाज को सर्वोत्तम रूप में समझने के लिए उसकी तुलना

सावयव या शरीर-रचना के साथ करनी चाहिए। उनका विश्वास था कि समाज एक प्राणिशास्त्रीय व्यवस्था की भाँति है और दोनों की संरचना और कार्य एक समान हैं। सावयव की भाँति समाज का भी क्रमिक विकास सरल से जटिल रूप में होता है और सावयव की भाँति समाज में भी कार्यों का विभाजन और संरचना के विभिन्न अंगों में अन्तःसम्बन्ध व अन्तःनिर्भरता देखने को मिलती है। समाज और सावयव (शरीर-रचना) में अनेक बातें में समानता है। समाज और सावयव के बीच इस प्रकार की आठ बुनियादी समानताओं का उल्लेखन स्पेन्सर ने किया है—(1) दोनों का ही विकास धीरे-धीरे होता है और इस प्रकार आकार में वृद्धि के मामले में दोनों ही जड़ पदार्थ से भिन्न हैं। (2) दोनों में ही आकार की वृद्धि सरल से क्रमशः जटिल की ओर होती है। दूसरे शब्दों में, जैसे-जैसे दोनों आकार में बढ़ते हैं, उनकी संरचना की जटिलता बढ़ती जाती है। (3) दोनों में ही संरचना में विकास के साथ-साथ उसके विभिन्न अंग एक-दूसरे से पृथक् होते जाते हैं और प्रत्येक अंग का कार्य भी अलग-अलग हो जाता है। अर्थात् अंगों में विभेदीकरण के साथ तद्रूप कार्यों का भी विभेदीकरण होता है। (4) दोनों में ही विभेदीकरण के साथ-साथ विभिन्न अंगों में अन्तःसम्बन्ध और अन्तःनिर्भरता देखने को मिलती है। (5) इसी अन्तःसम्बन्ध के आधार पर दोनों में ही अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए एक संचार या वितरण व्यवस्था होती है। हम भोजन करते हैं तो वह मुँह के द्वारा उदर में प्रवेश करता है, उदर में विभिन्न क्रियाओं द्वारा भोजन का पाचन कार्य पूरा होता है और खून बनता है। वह खून हृदय से नसों द्वारा शरीर के विभिन्न अंगों में संचारित होता है। जिससे शरीर का अस्तित्व बना रहता है। ठीक उसी प्रकार समाज के विभिन्न वर्ग आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, धन की उत्पत्ति होती है और उन वस्तुओं एवं धन का वितरण यातायात और वाणिज्य व्यवस्था द्वारा होता है और समाज का अस्तित्व बना रहता है। (6) शरीर में मस्तिष्क, स्नायुओं के द्वारा, शरीर के विभिन्न अंगों पर नियन्त्रण करता है और शरीर के सभी अंग मस्तिष्क के आदेशों का पालन करते हैं। समाज में मस्तिष्क का यह काम सरकार करती है और यातायात एवं संचार के साधनों द्वारा अपने आदेशों को जनता तक पहुँचाती है। (7) जीवित शरीर अनेक कोष्ठों (cells) से बनता है, उसी प्रकार समाज का निर्माण अनेक व्यक्तियों द्वारा होता है। (8) शरीर की किसी इकाई के शरीर से पृथक् हो जाने पर जिस प्रकार शरीर समाप्त नहीं होता उसी प्रकार समाज की किसी इकाई (व्यक्ति) के समाज से अलग हो जाने से समाज का अस्तित्व मिट नहीं जाता। उदाहरणार्थ, हाथ या पैर के कट जाने पर शरीर मर नहीं जाता, उसी प्रकार किसी व्यक्ति के मर जाने से समाज का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता।

उपरोक्त समानताएँ होते हुए भी समाज और सावयव में कुछ आधारभूत भिन्नताएँ भी हैं। ये भिन्नताएँ स्पेन्सर के मतानुसार निम्नलिखित हैं—(अ) सावयवी विकास में प्रकृति का सर्वप्रथम योगदान होता है; प्राकृतिक नियम के अनुसार, एक निश्चित गति से सावयव आप-से-आप बढ़ता या विकसित होता रहता है। इसके विपरीत समाज का

विकास प्राकृतिक नियम के अनुसार आप-से-आप न होकर मनुष्यों के सचेत प्रयत्नों के फलस्वरूप होता है और मनुष्य द्वारा उस विकास की गति तेज या धीमी की जा सकती है। (ब) एक सामयिक का निर्माण अनेक कोष्ठों से होता है, पर वे सम्पूर्ण सावयव में इस प्रकार घुलमिल जाते हैं कि उनका स्वतन्त्र अस्तित्व सम्भव ही नहीं होता। परन्तु यह बात समाज पर लागू नहीं होती है। समाज के कोष्ठ व्यक्ति हैं, पर उनका एक स्वतन्त्र अस्तित्व होता है; वे स्वतन्त्रतापूर्वक सोचने, विचारने, निर्णय लेने तथा कार्य करने की क्षमता रखते हैं। (स) सावयव में चेतन शक्ति केन्द्रित होती है। स्नायुमण्डल में प्रत्येक अंग की पृथक् शक्ति नहीं होती है। इसके विपरीत, समाज में प्रत्येक अंग की पृथक् चेतन शक्ति होती है। (द) जबकि सावयव में इकाइयाँ सम्पूर्ण की भलाई के लिए जीवित रहती हैं, समाज में सम्पूर्ण सभी सदस्यों की भलाई के लिए जीवित हैं।

इस प्रकार स्पेन्सर जीवित शरीर की जब समाज से तुलना करते हैं तो उनका उद्देश्य ऐसी एक व्यवस्था की ओर संकेत करना होता है जिसमें समाजवादी व्यवस्था की भाँति चेतन शक्ति केन्द्रित हो। इसके साथ ही समाज के प्रत्येक सदस्य के अन्दर पृथक् चेतन शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार कर आप वैयक्तिक स्वतन्त्रता का समर्थन करते हैं और यह निष्कर्ष निकालते हैं कि व्यक्ति का कल्याण राजकीय नियन्त्रणों के अभाव में सम्भव है। वार्कर के शब्दों में, “सावयवी विकास की धारणा से शुरू करके स्पेन्सर ने व्यक्तिवाद के औचित्य को दर्शाना चाहा और सावयवी एकता की धारणा में समाप्ति करके समाजवाद को उचित ठहराया।” ✓